संक्षिप्त गीतोपनिषद्

डॉ. सुशील अग्रवाल

आज से हजारों वर्ष पहले महाभारत के युद्ध में जब अर्जुन अपने ही भाईयों के विरूद्ध लड़ने के विचार से कांपने लगते हैं तब भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था। अठारह अध्यायों में विभाजित इस उपदेश संग्रह का कितना अधिक महत्व है, इसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। गीता के हर श्लोक की व्याख्या से ही एक अलौकिक ग्रंथ का सृजन हो सकता है, इतना गहरा एवं मार्मिक अर्थ है इन श्लोकों का। इस आलेख के माध्यम से गीता के सभी अध्यायों का सार एवं निचोड़ पाठकों के समक्ष संक्षेप में प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है।

प्रथम अध्याय (46 श्लोक) : धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा कि धर्मभूमि स्वरूप कुरुक्षेत्र में मेरे पुत्रों और पांडू पुत्रों ने एकत्र होकर क्या किया? संजय ने युद्धक्षेत्र के दृश्य का वर्णन करते हुए कहा कि दुर्योधन, गुरु द्रोणाचार्य को अपनी अद्वितीय व्यूह रचना, विराट सेना, शूरवीरों, महाधनर्धारियों और अस्त्रों–शस्त्रों आदि के बारे में बता रहे हैं। वे कह रहे हैं कि उनके पक्ष में स्वयं द्रोणाचार्य, अजेय भीष्म पितामह और महान धनुर्धारी कर्ण भी हैं। विजय से पूर्ण आश्वस्त होते हुए उन्होंने गुरु द्रोणाचार्य को कहा कि प्रतिपक्ष में भीम का सैन्यबल भी पर्याप्त है। तभी युद्ध की घोषणा करते हुए सभी योद्धाओं ने शंख ध्वनि से आकाश और पृथ्वी को प्रतिध्वनित कर दिया। पांडवों की ओर से, श्रीकृष्ण द्वारा संचालित श्वेत घोड़ों से युक्त रथ पर बैठे अर्जुन ने कौरवों की सेना में जैसे ही अपने पितामहों, आचार्यों एवं अन्य परिवारजनों को देखा तो युद्ध के परिणाम की कल्पना मात्र से ही उसका शरीर कांपने लगा और उसका मन विषाद में डूब गया। मन की इस दयनीय अवस्था में उसने बाण सहित अपने गांडीव धनुष का परित्याग करके युद्ध न करने का निश्चय कर लिया।

द्वितीय अध्याय (72 श्लोक) : विषादग्रस्त और मन की भ्रमित अवस्था में अर्जुन ने स्वयं को श्रीकृष्ण के शरणागत करते हुए उनसे सही शिक्षा देने का निवेदन किया। श्रीकृष्ण, दोनों सेनाओं के मध्य, शोकातुर अर्जुन को मानो हँसते हुए समझाते हैं कि बुद्धिमान व्यक्ति को न तो प्राणहीन वस्तु और न ही प्राणवान व्यक्ति के लिए शोक करना चाहिए क्योंकि आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत और प्राचीन होने पर भी नित्य नवीन है। शरीर का क्षय होने के पश्चात् आत्मा नवीन शरीर को धारण करती है इसीलिए बुद्धि मान व्यक्ति को बिना किसी आसक्ति के अपने कर्त्तव्यों का पालन करना

चाहिए। मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करना मात्र है और फल पर उसका कोई अधिकार नहीं है। न तो मनुष्य को स्वयं को कर्म का कर्त्ता मानना चाहिये और न ही कर्म न करने के लिए आसक्त होना चाहिये। तुम्हारा क्षत्रिय धर्म युद्ध करना है इसीलिए उठो और युद्ध करो।

तृतीय अध्याय (43 श्लोक) : ज्ञानियों और योगियों के अंतर को स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि फल की इच्छा के बिना किये गए कर्मों को 'कर्मयोग' कहते हैं। विषय–भोग की कामना के साथ किये गए कर्मों से केवल विषय–सुख ही प्राप्त हो सकता है। कर्मयोग बंधन में नहीं बांधता और यज्ञ के समान होता है इसीलिए वह निश्चित ही श्रेयस्कर है।

चतुर्थ अध्याय (43 श्लोक) : श्रीकृष्ण ने पुनर्जन्म के सिद्धांत को समझाया है और अपने अजन्मे, अविनाशी एवं समस्त जीवों के ईश्वर होने के स्वरूप का परिचय देते हुए कहा कि वे अधर्म के विनाश और धर्म की संस्थापना के लिए युग–युग में प्रकट होते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि का कर्त्ता होने के बावजूद भी कर्मों में लिप्त न होने के कारण वे कर्मों के कर्त्ता नहीं बनते। इसीलिए कर्मों के भेद को समझो और तत्व ज्ञान को जानो जिससे जन्म–बंधन से मुक्त हो सको।

पंचम अध्याय (29 श्लोक) : कर्म करने के प्रकारों पर प्रकाश डालते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों ही सही हैं परन्तु उनमें से कर्मयोग श्रेयस्कर है। कर्मयोग रहित कर्मसंन्यास दुखदायी है और निष्काम कर्मयोगी ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। इस तथ्य को भी समझाया है कि आत्मा और शरीर अलग–अलग हैं। कर्म की उत्पत्ति मनुष्य की कामना से होती है और कर्म हमारे शरीर द्वारा किया जाता है न कि आत्मा द्वारा। विषय–भोग ही समस्त दुखों का कारण है जिसका कोई आदि और अंत नहीं है। ज्ञानी लोग विषयों में आसक्त नहीं होते और निरंतर ब्रह्म में अवस्थित रहते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं।

षष्ठम अध्याय (47 श्लोक) : श्रीकृष्ण ने मात्र दैहिक कर्म का त्याग करने वालों की अपेक्षा उन मनुष्यों को संन्यासी और योगी कहा है जो कर्मफल की इच्छा के बिना कर्म करते हैं। तदुपरांत, जो मन और इन्द्रियों को वश में करके श्रीकृष्ण स्वरूप में ही ध्यान लगाते हैं, वे सर्वश्रेष्ठ योगी हैं। अर्जुन ने कहा कि मन तो चंचल है उसे वश में करना तो वायु को वश में करने के समान कठिन है तो श्रीकृष्ण समझाते हैं कि मन मित्र भी है और शत्रु भी। अभ्यास और वैराग्य द्वारा वह मित्र होकर वश में हो जाता है।

सप्तम अध्याय (30 श्लोक) : श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि उनकी दो प्रकृति हैं, एक बाह्य जिसके आठ भाग (भूमि, जल, पवन, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) हैं और दूसरी जीव–स्वरूप। श्रीकृष्ण ने कहा कि समस्त जीव एवं वस्तु मेरी इन्हीं दोनों प्रकृतियों से उत्पन्न हुए हैं और मैं स्वयं ही जगत का सृजनकर्ता एवं संहारक हूँ। कारण भी मैं हूँ और सार भी मैं ही हूँ। एक धागे में मणियों की तरह ही सम्पूर्ण जगत मुझमें पिरोया हुआ जानो। सात्विक, राजसिक और तामसिक गुणों से ही सम्पूर्ण जगत मोहित है परन्तु मेरा आश्रय ग्रहण करके, इस माया रूपी भवसागर को पार किया जा सकता है।

अष्टम अध्याय (28 श्लोक) : श्रीकृष्ण ने ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिदेव, अधिभूत आदि का अर्थ समझाया और कहा कि जो मृत्यु के समय भी मुझमें रह पाता है उसे परम गति प्राप्त होती है क्योंकि जो मनुष्य की अन्त काल में मनः स्थिति होती है वही उसे प्राप्त होता है। जो निरन्तर मुझे ही स्मरण करते रहते हैं उनके लिए मैं सुलभ हूँ। श्रीकृष्ण पुनः अर्जुन को कहते हैं कि मन और बुद्धि को परम तत्व को समर्पित करते हुए उठो और युद्ध करो।

नवम अध्याय (34 श्लोक) : श्रीकृष्ण कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत मुझमें समाया हुआ है किन्तु मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ। जिस प्रकार वायु सदैव आकाश में स्थित रहती है उसी प्रकार समस्त जीव–वस्तु मुझमें स्थित हैं। जो लोग यथार्थ महात्मा होते हैं वे अनन्य भाव से सदैव मुझे भजते हैं और उनकी देखभाल मैं स्वयं ही करता हूँ। तुम जो भी कर्म करते हो, भोजन करते हो, दान करते हो, तप आदि करते हो, सब कुछ मुझे समर्पण करो। अर्थात, देह और चित्त को मुझमें ही रखो तो मुझे ही प्राप्त होगे।

दशम अध्याय (42 श्लोक) : श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सखा और भक्त होने के कारण अपने अवर्णनीय रूप, अनंत स्वरूप, विभूतियों और ऐश्वर्य के बारे में संक्षेप में बताया और कहा कि सम्पूर्ण चर–अचर जगत एवं उनके सभी गुण आदि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण वे स्वयं ही हैं और उन्होंने बिना परिश्रम के अपने एकांश में सम्पूर्ण जगत को

धारण किया हुआ है।

एकादश अध्याय (55 श्लोक) : अर्जुन ने श्रीकृष्ण के इस ऐश्वर्यमय रूप को देखने की इच्छा की तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्य नेत्र प्रदान किये क्योंकि प्राकृतिक नेत्रों से उनका दिव्य रूप देख पाना असंभव था। दिव्य नेत्रों से अर्जुन ने उस विराट रूप को देखा जिसका कोई आदि, मध्य और अंत नहीं था और उसमें सम्पूर्ण जीव, वस्तु, दिशाएं, लोक आदि समाये हुए थे। अर्जुन ने उसमें भूत, वर्तमान एवं भविष्य सभी कुछ देखा। यह सब देख कर अर्जुन अत्यंत रोमांचित एवं विस्मित होकर नतमस्तक हो गया। श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं लोकों का संहार करने के लिए अभी प्रवृत्त हुआ हूँ और प्रतिपक्ष में जो योद्ध ा हैं वह तुम्हारे द्वारा हत हुए बिना भी जीवित नहीं रहेंगे। अतः तुम निमित्त मात्र बन जाओ और युद्ध करो। यह कहकर श्रीकृष्ण पुनः अपने मनोहर पुरुष रूप में आ गए और अर्जुन से कहा कि तुमने जिस रूप में मुझे अभी देखा था, इस रूप में मैं न तो वेद, न तपस्या, न दान और न ही यज्ञ के द्वारा दर्शनीय हूँ।

द्वादश अध्याय (20–श्लोक) : श्रीकृष्ण ने कहा कि जो लोग समस्त कर्म मेरी प्राप्ति के लिए करते हैं, मुझे ही अर्पित करते हुए करते हैं और मुझे ही भजते हैं उनको मैं संसार–सागर से पार कर देता हूँ। अगर तुम चित्त को स्थिर करने में असमर्थ हो तो अभ्यास योग द्वारा प्रयास करो, उसमें भी असमर्थ हो तो मेरे श्रवण–कीर्तन आदि से सिद्धि प्राप्त करो, उसमें भी असक्षम हो तो संयत चित्त से समस्त कर्मों के फल का त्याग करो। मुझमें मन और बुद्धि अर्पण करने वाले और उदासीन भाव से रहने वाले भक्त मुझे प्रिय हैं।

त्रयोदश अध्याय (35–श्लोक) : श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि कर्मों का क्षेत्र यह शरीर है और जो इसे जानता है वह क्षेत्रज्ञ है। समस्त क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ श्री कृष्ण स्वयं ही हैं। श्रीकृष्ण ने क्षेत्र के विकारों के बारे में संक्षेप में बताते हुए कहा है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अंतर को जानना ही ज्ञान है। इसको जानने के पश्चात विषय में लिप्त न होना और समभाव से रहना भी ज्ञान है। जो इस प्रणाली से जीव–तत्व और परम–तत्व को समझ जाते हैं वे पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करते।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि सात्विक, राजसिक और तामसिक गुणों से ही संसार का विस्तार होता है। जो व्यक्ति इनसे बंध जाते हैं वे कर्म बंधन रूपी चक्र में फंसे रहते हैं। सात्विक गुण ज्ञान एवं सुख से, राजसिक गुण इच्छाओं एवं अपेक्षाओं से और तामसिक गुण भोग एवं आलस्य से बांधते हैं। उसके विपरीत भक्ति योग में संलग्न मनुष्य इन त्रिगुणों को पार कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

चतुर्दश अध्याय (32 श्लोक) : श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि सात्विक, राजसिक और तामसिक गुणों से ही संसार का विस्तार होता है। जो व्यक्ति इनसे बंध जाते हैं वे कर्म बंधन रूपी चक्र में फंसे रहते हैं। सात्विक गुण ज्ञान एवं सुख से, राजसिक गुण इच्छाओं एवं अपेक्षाओं से और तामसिक गुण भोग एवं आलस्य से बांधते हैं। उसके विपरीत भक्ति योग में संलग्न मनुष्य इन त्रिगुणों को पार कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

पञ्चदश अध्याय (20 श्लोक): श्रीकृष्ण ने कहा है कि संसार अश्वत्थ वृक्ष के समान है परन्तु जड़ें ऊपर और शाखाएं नीचे की ओर हैं। शाखाएं निम्न (मनुष्य, पशु आदि) और उच्च योनियों (देवता आदि) का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। भोग–वासना रूपी जटाएं नीचे की ओर विकसित होती रहती हैं और प्रकृतिजन्य गुणों द्वारा पोषित हैं। मनुष्य इससे परे हट कर ही आध्यात्मिक रूप से तत्व ज्ञान को पा सकता है अन्यथा, जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में अपने–अपने कर्मों के अनुरूप विभिन्न योनियों में विचरण करते रहते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही क्षर से अतीत और अक्षर से श्रेष्ठ होकर पुरुषोत्तम हूँ। जो लोग, मोह शून्य होकर मेरा भजन करते हैं वे सर्वविद होकर संसार को अनायास ही पार कर जाते हैं।

षोडश अध्याय (24–श्लोक) : श्रीकृष्ण ने दैवी और आसुरी प्रकृति का पृथक–पृथक वर्णन किया है और कहा है कि काम, क्रोध एवं मोह आसुरी प्रकृति हैं और ये नरक के द्वार हैं। दैवी प्रकृति का आश्रय लेने

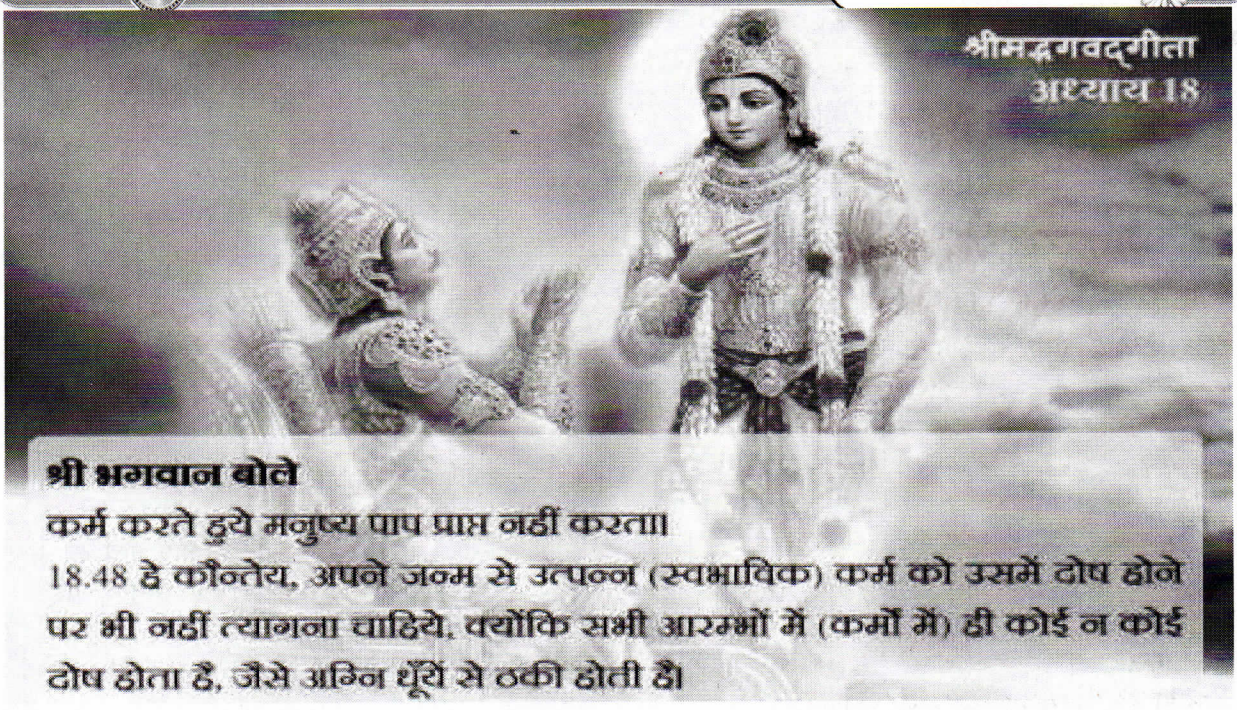

पर मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता है और आसुरी प्रकृति का आश्रय लेने पर भगवान् का द्वेषी बनता है।

सप्तदश अध्याय (28 श्लोक) : श्रीकृष्ण ने तीन प्रकार की श्रद्धा कही है – सात्विक, राजसिक और तामसिक। व्यक्ति, किस तत्व के प्रति श्रद्धालु होता है यह उसे पूर्व–संस्कार से, मनुष्य संग से और स्वभाव से प्राप्त होता है। मनुष्य किस प्रकृति के अधीन है यह उसके भोजन, यज्ञ, तपस्या और दान से प्रतिबिंबित हो जाता है। यज्ञ, तप, दान आदि कर्म शास्त्र सम्मत विधि द्वारा ही करने चाहिए। ॐ के उच्चारण से यज्ञ, तप, दान आदि अनुष्ठित होते हैं, तत् के उच्चारण से फल की कामना का त्याग होता है और सत् का उच्चारण ब्रह्म में स्थित होने के लिए होता है।

अष्टादश अध्याय (78 श्लोक) : इस अध्याय में गीता का उपसंहार है। श्रीकृष्ण, आरम्भ में कर्मयोग का सार कहते हुए त्याग (कर्मों के फल को त्यागने वाले) और संन्यास का अंतर स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि चित्त को शुद्ध करने वाले यज्ञ, दान और तपस्या आदि मनुष्य के कर्त्तव्य कर्म हैं। परन्तु, इन्हें कर्त्तापन के अभिमान और फल की इच्छा के बिना करना मनुष्य का कर्तव्य है। श्रीकृष्ण ने कर्मों की सिद्धि के लिये पांच कारण कहे हैं जिनमें प्रथम चार हैं : देह, कर्त्ता, इन्द्रियाँ और विविध चेष्टाएँ। श्रीकृष्ण कहते हैं कि पंचम कारण मैं स्वयं ही हूँ और मेरी मर्जी के बिना कुछ भी संभव नहीं है। जो व्यक्ति कर्मयोग से पूर्णतः संयमित है उन्हें अपने मन और इन्द्रियों को नियंत्रित करते हुए व्यवहार करना होगा जिससे उसे मोक्ष की प्राप्ति हो सके। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे अपने भक्त प्रिय हैं, मैं उनकी रक्षा करता हूँ, उन्हें अपने धाम आने में उनकी मदद करता हूँ। अतः सदैव मेरे विषय में सोचो और मेरी भक्ति में संलग्न रहो जिससे तुम मुझे ही प्राप्त हो। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को, पूर्वोक्त कहे गए की अपेक्षा, अत्यंत गोपनीय वाक्य का पुनः श्रवण करने को कहा, तुम मेरे प्रिय हो इसीलिए मैं तुम्हें कहता हूँ कि तुम मुझे अपना चित्त समर्पण करो और मेरे परायण होकर मेरी भक्ति करो इससे तुम मुझे ही प्राप्त करोगे। इस प्रकार, प्रभु कृपा प्राप्त करके अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि अब मेरा मोह निश्चित रूप से नष्ट हो गया है और मैंने आत्मस्मृति प्राप्त की है। अतः अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। अंत में, संजय ने परम विस्मित, हर्षित और रोमांचित होते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि उसे गुरु कृपा से साक्षात श्रीकृष्ण को सुनने का अवसर मिला और अब उसका यह निश्चित मत है कि जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, ऐश्वर्य–वृद्धि और न्याय–परायणता है। ❐

पता : बी–301, सोम अपार्टमेंट्स,
सेक्टर–6, प्लॉट–24, द्वारका,
नयी दिल्ली– 110075
दूरभाष : 9810162371